

काव्यानुशासनगत हास्यरस

डॉ. राज पाल

एसोसिएट प्रोफेसर एवं, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सी.आर. किसान महाविद्यालय, जीन्द, हरियाणा, भारत।

प्रस्तावना

वैदिककाल से ही "रस" ने भारतीय विद्या के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी उपस्थिति से आच्छन्न कर रखा है। विशेष बात यह है कि "रस" जहाँ भी है वहाँ उस क्षेत्र विशेष के प्रायः मूलभूततत्त्व के रूप में ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रस का व्याख्यान करने वाला प्रथम उपलब्ध ग्रंथ भरतकृत "नाट्यशास्त्र" ही है। परन्तु स्वयं नाट्यशास्त्र के साक्ष्य – "एते हाष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना"¹ से ही प्रकट है कि यहाँ रसचिंतन की परम्परा उस नाट्यशास्त्र से भी प्राचीन रही है। भरत के पश्चात् भी भामह से लेकर जगन्नाथ की परम्परा के प्रत्येक आचार्य ने "रस" को अपने विवेचनों में स्थान दिया है।

आचार्य अभिनव का योगदान अनन्य है। वस्तुतः उन्होंने अपनी ऋषिवत् मेधा से रस-प्रक्रिया के जिस मनोवैज्ञानिक स्वरूप का प्रकाशन किया है। उसके बाद तो उनके परवर्तियों के लिए रस सम्बन्धी क्षेत्र में प्रायः कोई कार्य ही बचा नहीं होता।

रस का सामान्य लक्षण

डॉ. हेमचन्द्र के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त स्थायीभाव रस है।¹

उन्होंने एक रस सूत्र बताया है। जैसे (यथा) "विभावानुभावव्यभिचारीभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः।"²

वाचकादि अभिनयों से युक्त स्थायीभाव तथा व्यभिचारीरूप चित्तवृत्तियों का जिनके द्वारा विभावन अर्थात् विशिष्टतया ज्ञान होता है, वे ही विभाव कहलाते हैं। ये विभाव दो प्रकार के होते हैं।

अ) आलम्बन विभाव – यथा – ललनादि।

आ) उद्दीपन विभाव यथा – उद्यानादि।

इन दोनों का स्वरूप साहित्य में प्रसिद्ध है।³ शास्त्र-प्रसिद्ध होने के साथ ही ये दोनों संज्ञाएँ सर्वथा अन्वर्थ भी हैं।

स्थायी तथा व्यभिचारीरूप चित्तवृत्त-विशेष का अनुभव करने वाले सामाजिक को जिन कटाक्ष तथा भुजोत्क्षेपादि से अनुभव होता है, उन्हें ही "अनुभाव" कहते हैं।

जो भाव विभिन्न प्रकार से अभिमुखतया चरणशील होते हैं। वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। यथा – धृत, स्मृति आदि।⁴ अभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः" इस प्रक्रिया में यह होता है कि यद्यपि यह स्थायी भाव व्यक्तिगत प्रमाता में ही स्थित होता है। तथापि साधारण विभावादि उपायों के बल से सहृदय के हृदय में भासित होने वाली साधारणता से अनुभूयमान होता है। इस अभिव्यक्ति इत्यादि स्थायीभाव के रूप में ही सामाजिक को रसचर्चणा होती है।⁵

रस के भेद तथा उसके लक्षणः

आचार्य ने रस के 9 भेदों का उल्लेख किया है। यथा –

1. शृंगार रस
2. हास्य रस
3. करुण रस

4. रौद्र रस
5. वीर रस
6. भयानक रस
7. वीभत्स रस
8. अद्भुत रस
9. शान्त रस।⁶

हेमचन्द्र के अनुसार ये नौ ही रस हैं। जो परस्पर असंकीर्ण प्रकृति वाले हैं। हेमचन्द्र ने कहा कि मनुष्य के चार पुरुषार्थ होते हैं। उसके (मनुष्य) के अन्तस् के उन से सम्बन्धित नौ स्थायी वृत्तियाँ होती हैं। इन स्थायी वृत्तियों की अभिव्यक्ति में ही सर्वाधिक चमत्कार होता है। इनसे भिन्न वृत्तियों की कल्पना द्वारा जो नए-नए रसों का पल्लवन होता है, वे इनके संकीर्ण रूप हैं। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा बताया गए नौ रसों में से हम यहाँ पर केवल "हास्य रस" की ही विवेचना करेंगे। हेमचन्द्र ने हास्य रस के लक्षण को निम्नवत् सूत्रित किया है। "विकृतवेषादिविभावो नासास्पन्दनाद्यनुभावो निद्रादिव्याभिचारी हासो हास्यः।"⁷ इसका विश्लेषण इस प्रकार है।

(अ) विकृतवेषादिविभावः

यहाँ देश, काल, आयु, तथा वर्ण के लिए जो निर्धारित है, उससे विपरीत को "विकृत" कहा गया है। "वैशादि" के वेश का तात्पर्य है, केशबन्ध प्रभृति तथा "आदि" शब्द से नर्तन, अन्य के चलने आदि का अनुकरण अवास्तविक प्रलाप तथा आभूषण का ग्रहण आदि अर्थात् इस प्रकार के विकृत वेशादि विभाव है।

(आ) नासास्पन्दनाद्यनुभावः

नासिका, ओष्ठ और कपोलों का स्पन्दन (फड़कना), नेत्रों का खिलना तथा संकुचित होना, पसीना होना, मुख का रक्ताभ हो जाना और अपने पार्श्व-प्रदेश को पकड़ लेना आदि अनुभाव है।⁸

(इ) निद्रादिव्याभिचारीः

निद्रा, अवहित्थ, त्रपा (लज्जा) व आलस्य आदि व्यभिचारीभाव है।

(ई) हासो हास्यः

उक्त से समन्वित "हास" नामक स्थायीभाव आस्वाद्यत्व को प्राप्त हो "हास्य रस" कहलाता है।

हेमचन्द्र के अनुसार "हास" दो प्रकार का होता है। यथा –

1. आत्मस्थ
2. परस्थ

(1) आत्मस्थः

स्पष्ट है, कि जब वेशादिगत विकार के फलस्वरूप सीधे स्वयं में ही हास उत्पन्न होने लगे तो वह आत्मस्थ-हास कहलाता है।

उत्तम, मध्यम तथा अधम मनुष्यों में क्रमशः स्मित, विहसित तथा अपहसित के रूप में होने से यह आत्मस्थ हास भी तीन प्रकार का होता है। यथा –

स्मितः

स्मित उत्तमों में होता है। इसमें कपोल चोड़े से ही विकसित होते हैं, कटाक्ष आकर्षणान्वित होते हैं। दाँत बाहर नहीं दिखाई देते यह सौम्य होता है अर्थात् इसमें कोई ध्वनि आदि नहीं होती। यह उत्तम हास होता है।

विहसितः

इसमें कपोल तथा नेत्र सिकुड़ जाते हैं। जो ध्वनियुक्त तथा मधुर होता है। जो हँसने के उपयुक्त होता है। जिसमें मुख लाल हो जाता है। उसे विहसित कहा जाता है।

अपहसितः

बिना अवसर के होने वाला हास, जिसमें नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं तथा कन्धे और सिर उत्कटता से हिलते हैं। “अपहसित” कहलाता है। यह अधम व्यक्तियों में पाया जाता है।

उदाहरणः

“पाणौ” आदि में पशुपति का हास आत्मस्थ हास है। हाँ, इस उदाहरण से यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि स्वगत वेशाविकारादि से जन्मा हास ही आत्मस्थ कहा जाएगा।

(2) परस्थः

दूसरों को हँसता देखकर हँसना परस्थ हास की कोटि में रखा जाता है। यह परस्थ भी स्मितादि के संक्रमण से यथाक्रम उत्तम, मध्यम तथा अधमजनों में उत्पन्न होने वाले हसित, उपहसित तथा अतिहसित रूपों से तीन प्रकार का होता है। “काव्यानुशासन” में यहाँ भी भरत-विहित कारिकाओं के साक्षात् उद्धरण द्वारा ही इनके स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है।⁹ यथा—

हसितः

प्रफुल्लित मुखमण्डल व नेत्रों वाला विकसित कपोलों से युक्त तथा कुछ दिखाई देने वाले दाँतों से समन्वित परस्थ हास “हसित” कहलाता है। यह उत्तम है।

उपहसितः

वह परस्थ हास है जिसमें नासिका फूल जाती है। निरीक्षण वक्रदृष्टि से युक्त हो जाते हैं। तथा कन्धे और सिर सिकुड़ जाते हैं। यह मध्यमजनों में ही होता है।

अतिहसितः

अतिहसित में नेत्र आवेग तथा आसुओं से युक्त हो जाते हैं। चिल्लाहट युक्त उद्धत स्वर निकलता है तथा हँसने वाला अपने पार्श्व-प्रदेश को हाथों से पकड़ लेता है। वास्तव में परस्थ हास की दो स्थितियाँ हो सकती हैं। यथा –

विभाषादिः

किसी को बिना देखे दूसरे को हँसता देखने मात्र से ही व्यक्ति हँसने लगता है।

विभावादिः

किसी को देखकर किसी में गंभीरतावश हासोदय न हो रहा हो परन्तु अन्ततः दूसरे के हास को देखकर उसमें भी हास उत्पन्न हो

जाए इस प्रकार हास संक्रमणशील होता है।

हेमचन्द्र द्वारा उदाहृत “कनककलशस्वच्छे”— आदि में चित्रित हरि का हास ऐसा ही परस्थ हास है।

रसों का स्थायी भाव एवं स्वरूपः

सर्वप्रथम आचार्य ने दो प्रकार की व्युत्पत्तियों के माध्यम से भाव को स्पष्ट किया है। यथा—चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं क्योंकि

- वे स्वयं को भावित करती हैं। तात्पर्य यह है कि लौकिक दशा में चित्तवृत्तियाँ आस्वादनीय नहीं होती परन्तु अलौकिक वाचिकादि अभिनयों के आश्रय से वे स्वयं को आस्वाद्य बना लेती हैं। अपना यह आस्वाधीकरण ही उनका स्वयं को भावित करना है।
- ये चित्तवृत्तियाँ सामाजिकों के मन को भावित अर्थात् व्याप्त करती हैं। ये “भाव” स्थायी और व्यभिचारी रूप में दो प्रकार के होते हैं। इनमें से स्थायित्व, उपरिपरिगणित इत्यादि का ही है। दूसरे शब्दों में मनुष्य के मात्र ये नौ ही स्थायीभाव होते हैं यथा –
 1. रति
 2. हास
 3. शोक
 4. क्रोध
 5. उत्साह
 6. भय
 7. जुगुप्सा
 8. विस्मय
 9. शम आदि।

- जन्तु जन्म से ही इन संवेदनाओं से सम्पन्न होता है। ये जन्मजात वृत्तियों के ही कारण दुःखविद्वेषी तथा सुखास्वादन की लालसा के युक्त प्रत्येकप्राणी –
- स्मरण करने की इच्छा से परिपूर्ण होता है।
- अपने आप में अन्यों की अपेक्षा उत्कर्ष मानने के कारण दूसरों का उपहास करता है।
- उस उत्कर्ष के प्रति उपाय की शंका से शोचन करता है।
- उस उपाय के प्रति क्रोध करता है।
- अपाय के निराकरण के लिए समुत्साहित होता है।
- किसी वस्तु को अयुक्त मानने के कारण उससे घृणा करता है।
- अपने तथा दूसरों के उन कार्यों की विचित्रता के साक्षात्कार से विस्मित होता है।
- कुछ लौकिक वस्तुओं को त्यागने की इच्छा वाला यह प्राणी वैराग्य के कारण शक्ति का आश्रय लेता है।

इन चित्तवृत्तियों की वासना से सर्वथा रहित कोई भी प्राणी नहीं होता बस होता केवल यह है कि किसी प्राणी ने कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है तो कोई अल्प। किसी व्यक्ति में चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है। तो किसी में एवंविध नियमन से रहित ही होती है। इसलिए कोई ही चित्तवृत्ति पुरुषार्थोपयोगिनी होती है। यह कहना चाहिए कि उन चित्तवृत्तियों के विभाजन द्वारा ही व्यक्तियों को उत्तम प्रकृति आदि कहा जाता है।¹⁰

उपसंहारः

वैदिककाल से ही “रस” ने भारतीय विद्या के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी उपस्थिति से आच्छन्न किया हुआ है। रस की महिमा के बारे में कहा गया है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में रस की व्याख्या करने वाला प्रथम ग्रंथ भरतकृत “नाट्यशास्त्र” ही है। रस के अनेक सामान्य लक्षण भी बताए गए हैं। रस के अनेक भेद तथा उनके

लक्षणों की महिमा का व्याख्यान भी किया गया है । जैसे – शृंगार रस, हास्य रस, करुण रस आदि । मुख्य रूप से हास्य रस की विवेचना की गई है जो दो प्रकार का बताया गया है यथा आत्मस्थ तथा परस्थ आगे इनके भी कई भेद हैं। रसों के स्थायीभाव एवं उनके स्वरूप का भी वर्णन देखने को मिलता है जैसे-विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारों द्वारा अभिव्यक्त स्थायीभाव ही रस है। अंत में हम कह सकते हैं कि वैदिक काल से ही रसविद्या की महिमा का गुणगान भारतीय साहित्य में होता आ रहा है।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, 6/17 पूर्वार्द्ध ।
2. काव्यानुशासन, 2/11
3. भरत ने भी विभावों को विज्ञानार्थक ही माना है – ना. शा., अध्याय-7, पृ. 105
4. विविधमाभिमुख्येन चरणशीलैर्व्यभिचारि भिर्धूतिस्मृति प्रभतिभिः काव्यानुशासन, 2/1
5. निमीलितनयनैकविसहृदयैरहस्यमानः – रसः – वही
6. शृंगारहास्यकरुणशैद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्ता नव रसाः । काव्यानु. 2/21
7. काव्यानु., 2/91
8. नासौष्टकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशकुंचनस्वेदास्यरागपार्श्व ग्रहणाद्यनुभावो ।
9. एतत् संक्रम जैर्हसितोपहसितातिहसितैः परस्थोऽपि – काव्यानु. – तदेव
10. न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति – वही 2/11